ईमान और इताअत

मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह०)

अनुवाद

एस० कौसर लईक़

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

'अल्लाह के नाम से जो बड़ा मेहरबान और निहायत रहमवाला है।'

दो शब्द

यह छोटी-सी किताब अस्ल में मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह०) का एक लेख है जो दिसम्बर, 1934 ई० में तर्जमानुल-क़ुरआन नामक पत्रिका में छपा था। बाद में इसे तनक़ीहात नामी किताब में शामिल कर लिया गया।

मौलाना मौदूदी (रह०) एक सच्चे, मुख़लिस (सत्यनिष्ठ) और ग़ैरतमन्द इनसान थे। उनका मानना था कि आदमी जिस दीन और नज़रिये का माननेवाला हो उसपर वह सच्चे दिल और ईमानदारी के साथ कारबन्द रहे। इसी लिए उनकी ख़ाहिश और दिली तमन्ना थी कि अपने को मुसलमान कहनेवाले लोग सही मानी में इस्लाम को माननेवाले बनें और अपने क़ौल व अमल (करनी-कथनी) से इस्लाम की नुमाइन्दगी करें। ज़बान से इस्लाम का नाम लेना और इसका दावेदार बनना, लेकिन अपने क़ौल व अमल से उन बातों, शिक्षाओं और हुक्मों की ख़िलाफ़वर्ज़ी करना जो इस्लाम ने पेश किए हैं, मौलाना के लिए सख़्त दिली तकलीफ़ और दुख का कारण था। वे इस रवैये और पॉलिसी को मुसलमानों के हक़ (हित) में और इस्लाम के हक़ में निहायत हानिकारक समझते थे। उनका मानना था और यह हक़ीक़त भी है कि ग़ैर-मुस्लिम दुनिया में मुसलमान का हर काम और उसकी हर बात इस्लाम का काम और इस्लाम की

बात समझी जाती है। इसलिए हमारा रवैया ऐसा होना चाहिए जो इस्लाम की नेकनामी का सबब बने न कि बदनामी का।

मौलाना का पैग़ाम था कि दो रंगी छोड़कर यक रंग हो जा! इसी को क़ुरआन मजीद में इस तरह फ़रमाया गया है, "दीन को अल्लाह ही के लिए ख़ालिस करो।"

(क़ुरआन, सूरा-98 बैयिनह, आयत-5)

हमारा ख़्याल है कि यह छोटी-सी किताब मुसलमानों को ग़फ़लत और नींद से बेदार करने और उन्हें ख़बरदार व सचेत करने के लिए बहुत ही असरदार और फ़ायदेमन्द साबित होगी। ऐसी हमें उम्मीद है। इसी लिए हमने इसे हिन्दी जानने-पढ़नेवाले मुसलमानों तक पहुँचाने के लिए हिन्दी ज़बान में प्रकाशित किया हैं। अल्लाह से दुआ है कि वह हमें अपने मक़सद में कामयाब फ़रमाए!

नसीम ग़ाज़ी फ़लाही

सेक्रेट्री

इस्लामी साहित्य ट्रस्ट (रजि॰)

दिल्ली

ईमान और इताअत

सामूहिक व्यवस्था चाहे वह किसी भी क़िस्म की हो और किसी भी मक़सद के लिए हो अपने को क़ायम और जमाए रखने और अपनी कामयाबी के लिए दो चीज़ों की हमेशा मुहताज होती है। एक यह कि जिन उसूलों पर किसी जमाअत को संगठित किया गया हो वे उस पूरी जमाअत और उसके हर सदस्य के दिलो-दिमाग़ में अच्छी तरह बैठे हुए हों और जमाअत का हर व्यक्ति उनको हर चीज़ से अधिक अज़ीज़ (प्रिय) रखता हो। दूसरे यह कि जमाअत में सुनने और फ़रमाँबरदारी का गुण मौजूद हो यानी उसने जिस किसी को अपना अमीर (ज़िम्मेदार) स्वीकार किया हो उसके हुक्मों की पूरी तरह इताअत और फ़रमाँबरदारी करे, उसके निश्चित किए हुए नियमों और क़ानूनों का सख़्ती के साथ पाबन्द रहे और उसकी हदों को न तोड़े। ये हर निज़ाम की कामयाबी के लिए लाज़िमी शर्तें हैं। कोई निज़ाम चाहे वह सैनिक निज़ाम हो या नागरिक निज़ाम या मज़हबी निज़ाम, इन दोनों शर्तों के बग़ैर न क़ायम हो सकता है, न बाक़ी रह सकता है और न अपने मक़सद को हासिल कर सकता है।

दुनिया का इतिहास

दुनिया का पूरा इतिहास उठाकर देख लीजिए, आपको एक मिसाल भी ऐसी न मिलेगी कि कोई तहरीक (आन्दोलन) थुड़-दिले, मुनाफ़िक़ (कपटाचारी), नाफ़रमान और सरकश अनुयायियों के

साथ कामयाब हुई हो और आख़िरी दर्जे तक चल सकी हो। इतिहास के पन्नों में भी जाने की ज़रूरत नहीं, ख़ुद अपने आस-पास की दुनिया ही पर एक नज़र डाल लीजिए। आप उस फ़ौज के बारे में क्या राय क़ायम करेंगे जो अपनी सल्तनत के वफ़ादार और अपने लश्कर के कमाण्डर के हुक्मों को माननेवाली न रहे, जिसके सिपाही फ़ौजी नियमों और क़ानूनों की पाबन्दी से इनकार करें। परेड का बिगुल बजे तो कोई सिपाही अपनी जगह से न हिले, कमाण्डर कोई हुक्म दे तो सिपाही सुनी-अनसुनी कर जाएँ? क्या आप सिपाहियों की ऐसी भीड़ को 'फ़ौज' कह सकते हैं? क्या आप उम्मीद कर सकते हैं कि ऐसी नाफ़रमान फ़ौज किसी जंग में कामयाब होगी? इसी तरह उस सल्तनत के बारे में क्या कह सकते हैं जिसकी जनता में क़ानून का आदर और सम्मान बाक़ी न रहे, जिसके क़ानून खुले आम तोड़े जाएँ, जिसके विभागों में किसी क़िस्म का ज़ब्तोनज़्म (अनुशासन) बाक़ी न रहे। जिसके कार्यकर्ता और कर्मचारी अपने अफ़सर के हुक्मों का पालन करना छोड़ दें? क्या आप कह सकते हैं कि ऐसी जनता और ऐसे कर्मचारियों के साथ कोई सल्तनत या राज्य दुनिया में कामयाब रह सकता है? आज आपकी आँखों के सामने जर्मनी और इटली की मिसालें मौजूद हैं। हिटलर और मुसोलिनी ने जो महान शक्ति हासिल की है तमाम दुनिया इसको मानती है, मगर कुछ मालूम भी है कि उसकी कामयाबी के साधन क्या हैं? वही दो, यानी ईमान (पूर्ण विश्वास) और हुक्म की फ़रमाँबरदारी। नाज़ी और फ़ासिस्ट जमाअतें कभी भी इतनी ताक़तवर और इतनी सफल नहीं हो सकती थीं,

अगर वे अपने उसूलों पर इतना पक्का अक़ीदा न रखतीं और अपने लीडरों की इतनी सख़्ती के साथ फ़रमाँबरदार न होतीं।

अटल नियम

यह वह व्यापक और मुकम्मल उसूल है जिसमें किसी को कोई छूट नहीं। ईमान (पक्का विश्वास) और फ़रमाँबरदारी असल में संगठन (जमाअत) की जान है। ईमान जितना रचा-बसा होगा और इताअत व फ़रमाँबरदारी जितनी मुकम्मल होगी संगठन और व्यवस्था उतनी ही मज़बूत और ताक़तवर होगी और अपने मक़सदों तक पहुँचने में उतना ही ज़्यादा कामयाब होगी। इसके ख़िलाफ़ लोगों के ईमान में जितनी कमज़ोरी होगी और फ़रमाँबरदारी से जितना वे मुँह फेरे हुए होंगे उतना ही संगठन और व्यवस्था कमज़ोर होगी और उसी हिसाब से वह अपने मक़सद तक पहुँचने में नाकाम रहेगी। यह कभी भी मुमकिन नहीं है कि किसी जमाअत में निफ़ाक़ (कपट), बदअक़ीदगी, ख़्यालों में बिखराव, ख़ुदसरी (सरकशी), नाफ़रमानी और बेज़ाब्तगी के मर्ज़ फैल जाएँ और फिर भी उसमें व्यवस्था बाक़ी रहे और वह जीवन के किसी भी मैदान में तरक़्क़ी की तरफ़ बढ़ती नज़र आए। ये दोनों हालतें एक-दूसरे की उलट हैं। दुनिया जब से आबाद हुई है, उस वक़्त से आज तक इन दोनों का कभी एका नहीं हुआ और अगर फ़ितरत का क़ानून अटल है तो उस क़ानून की धारा भी अटल है कि दोनों हालतें कभी एक जगह जमा नहीं हो सकतीं।

मुसलमानों की हालत

अब ज़रा उस क़ौम की हालत पर नज़र डालिए जो अपने आपको मुसलमान कहती है। निफ़ाक़ (मुनाफ़िक़त) और बदअक़ीदा होने की कौन-सी क़िस्म ऐसी है जिसका इनसान तसव्वुर (कल्पना) कर सकता हो और वह मुसलमानों में मौजूद न हो। इस्लामी समाज और व्यवस्था में वे लोग भी शामिल हैं जो इस्लाम की बुनियादी शिक्षाओं तक से नावाक़िफ़ (अनभिज्ञ) हैं और अब तक जाहिलियत (अज्ञानता) के अक़ीदों पर जमे हुए हैं और वे भी हैं जो इस्लाम के बुनियादी उसूलों में शक व सन्देह रखते हैं और शकों और सन्देहों का एलानिया प्रचार करते हैं। वे भी हैं जो खुलेआम इनकार करते हैं; वे भी हैं जो इस्लामी अक़ीदों और उसकी पहचान और फ़राइज़ का खुल्लम-खुल्ला मज़ाक़ उड़ाते हैं। वे भी हैं जो एलानिया मज़हब और मज़हबियत (धार्मिकता) से कोई लगाव न होने का इज़हार करते हैं। वे भी हैं जो अल्लाह और रसूल की तालीमात के मुक़ाबले में ख़ुदा के इनकारियों से हासिल किए हुए विचारों और अफ़कार (विचार-चिन्तन) को तरजीह (प्राथमिकता) देते हैं। वे भी हैं जो ख़ुदा और रसूल के क़ानून पर जाहिलियत की रस्मों या ख़ुदा के इनकारियों के क़ानून को ऊपर रखते हैं। वे भी हैं जो ख़ुदा और रसूल के दुश्मनों को ख़ुश करने के लिए इस्लामी फ़राइज़ और प्रतीकों की तौहीन करते हैं। वे भी हैं जो अपने छोटे-से-छोटे फ़ायदे के लिए इस्लाम की मस्लहतों (हितों) को बड़े-से-बड़ा नुक़सान पहुँचाने के लिए तैयार हो जाते हैं, जो इस्लाम के मुक़ाबले में इस्लाम के दुश्मनों का साथ देते हैं, इस्लामी ज़रूरतों के ख़िलाफ़

इस्लाम के मुख़ालिफ़ों (शत्रुओं) की ख़िदमत करते हैं और अपने अमल और व्यवहार से साबित करते हैं कि इस्लाम उनको इतना भी प्रिय नहीं कि उसकी ख़ातिर एक बाल बराबर भी नुक़सान गवारा कर सकें। पुख़्ता ईमान और सही अक़ीदा मुसलमानों के एक निहायत क़लील (अल्प) गरोह को छोड़कर इस क़ौम की बहुत बड़ी अक्सरीयत (बहुसंख्या) इसी क़िस्म के मुनाफ़िक़ और फ़ासिदुल-अक़ीदा (बिगड़े हुए अक़ीदे के) लोगों पर आधारित है।

यह तो था ईमान का हाल, अब 'समअ-व-ताअत' यानी 'सुनने और फ़रमाँबरदारी' करने का हाल देखिए। आप मुसलमानों की किसी बस्ती में चले जाइए, आपको अजीब नक़्शा नज़र आएगा। अज़ान होती है, मगर बहुत-से मुसलमान यह भी महसूस नहीं करते कि मुअज़्ज़िन (अज़ान देनेवाला) किसको बुला रहा है और किस चीज़ के लिए बुला रहा है। नमाज़ का वक़्त आता है गुज़र जाता है, मगर कुछ लोगों के सिवा कोई मुसलमान अपने कारोबार या तफ़रीह और खेल-कूद (मनोरंजन) को ख़ुदा की याद के लिए नहीं छोड़ता। रमज़ान का ज़माना आता है तो कुछ मुसलमानों के घरों में यह महसूस तक नहीं होता है कि यह रमज़ान का महीना है। बहुत-से मुसलमान एलानिया और खुलेआम खाते-पीते हैं और अपने रोज़ा न रखने पर ज़र्रा बराबर नहीं शर्माते, बल्कि बस चलता है तो उलटा रोज़ा रखनेवालों को शर्म दिलाने की कोशिश करते हैं। फिर जो लोग रोज़ा रखते हैं उनमें से भी बहुत कम हैं जो फ़र्ज़ होने के एहसास के साथ ऐसा करते हैं, वरना कोई सिर्फ़ रस्म अदा करता है, कोई सेहत के लिए फ़ायदेमन्द समझकर रख लेता है और रोज़ा

रखकर वह सब कुछ करता है जिससे ख़ुदा और उसके रसूल ने मना किया है। ज़कात और हज की पाबन्दी इससे भी बहुत कम है। हलाल और हराम, पाक और नापाक का फ़र्क़ करना तो मुसलमानों में से उठता ही चला जा रहा है। वह कौन-सी चीज़ है जिसको ख़ुदा और रसूल ने मना किया हो और मुसलमान उसको अपने लिए जाइज़ न कर लेते हों; कौन-सी हद है जो ख़ुदा और उसके रसूल ने क़ायम की हो और मुसलमान उसको न तोड़ते हों। अगर जनगणना के आंकड़े के लिहाज़ से देखा जाए तो मुसलमान करोड़ों की तादाद में हैं, मगर इन करोड़ों में देखिए कि कितने प्रतिशत नहीं, कितने प्रति हज़ार बल्कि कितने प्रति लाख ख़ुदा और उसके रसूल के हुक्मों को माननेवाले और इस्लामी नियमों और ज़ाब्तों की पाबन्दी करनेवाले हैं।

अंजाम

जिस क़ौम में मुनाफ़िक़त (कपट) और अक़ीदों की कमज़ोरी का मर्ज़ आम हो, जिस क़ौम में फ़र्ज़ (अनिवार्य कर्मों) का एहसास बाक़ी न रहे, जिस क़ौम से सुनने और इताअत करने की और ज़ाब्ते की पाबन्दी उठ जाए उसका जो कुछ अंजाम होना चाहिए, ठीक वही अंजाम मुसलमानों का हुआ है और हो रहा है। आज मुसलमान पूरी दुनिया में महकूम (शासित) और मग़लूब (प्राधीन) हैं, जहाँ उनकी अपनी हुकूमत मौजूद है, वहाँ भी वे ग़ैरों के अख़लाक़ी (नैतिक), ज़ेहनी और माद्दी (भौतिक) ग़ुलामी से आज़ाद नहीं हैं। जिहालत, मुफ़लिसी और ख़स्ताहाली में बेमिसाल हैं। अख़लाक़ी

गिरावट ने उनको हद दर्जा ज़लील और रुसवा कर दिया है। अमानत, सदाक़त (सच्चाई) और वादे को पूरा करने के गुण जिनके लिए वे कभी दुनिया में जाने जाते थे, अब उनसे दूसरों की तरफ़ स्थानांतरित हो चुके हैं और उनकी जगह बेईमानी, झूठ, दग़ाबाज़ी और मामले की ख़राबी ने ले ली है। तक़वा (ईशपरायणता), परहेज़गारी और अख़लाक़ की पाकीज़गी से वे ख़ाली होते जाते हैं। क़ौमी ग़ैरत (स्वाभिमान) और खुद्दारी दिन-प्रतिदिन उनसे दूर होती जा रही है। किसी प्रकार का नज़्म (अनुशासन) उनमें बाक़ी नहीं रहा है। आपस में उनके दिल फटे चले जाते हैं और किसी संयुक्त उद्देश्य के लिए मिलकर काम करने की योग्यता उनमें बाक़ी नहीं रही है। वे ग़ैरों की निगाहों में ज़लील और रुसवा हो गए हैं। क़ौमों पर से उनका विश्वास उठ गया है और उठता जा रहा है। उनकी क़ौमी और सामूहिक शक्ति कमज़ोर होती जा रही है। उनकी क़ौमी तहज़ीब (सभ्यता) और शाइस्तगी (शिष्टता) ख़त्म होती चली जा रही है। अपने हक़ों की रक्षा और अपनी दीनी क़ौमी बुलन्दी की हिफ़ाज़त से वे बेबस होते जा रहे हैं। इसके बावजूद कि तालीम उनमें बढ़ रही है। ग्रेजुएट और पोस्ट ग्रेजुएट और यूरोप के तालीम-याफ़्ता लोगों का इज़ाफ़ा हो रहा है। बंगलों (भव्य भवनों) में रहनेवाले, कारों में चलनेवाले, सूट पहननेवाले, बड़े-बड़े नामों से याद किए जानेवाले, बड़ी सरकारों में ऊँचे दर्जे पानेवाले, उनमें रोज़-ब-रोज़ बढ़ते जा रहे हैं, किन्तु जिन बुलन्द अख़लाक़ी गुणों से वे पहले सुसज्जित थे अब उनसे ख़ाली हैं। अपनी पड़ोसी क़ौमों पर उनकी जो साख और धाक पहले थी वह अब नहीं है, जो इज़्ज़त

वे पहले रखते थे वह अब नहीं रखते, जो इजतिमाई (सामूहिक) शक्ति और ताक़त उनमें पहले थी, वह अब नहीं है और भविष्य में इससे भी ज़्यादा ख़राब लक्षण नज़र आ रहे हैं।

दो तरीक़े

कोई धर्म या तहज़ीब हो, या किसी क़ौम की समाजी व्यवस्था हो उसके बारे में दो ही तर्ज़े-अमल (कार्यशैली) इनसान के लिए मुनासिब हो सकते हैं। अगर वह उसमें दाख़िल हो तो उसके बुनियादी उसूलों पर पूरा-पूरा अक़ीदा (विश्वास) रखे और उसके क़ानून और दस्तूर की पूरी-पूरी पाबन्दी करे और अगर ऐसा नहीं कर सकता तो उसमें दाख़िल न हो या हो चुका है तो पूरे एलान के साथ उसमें से निकल जाए। इन दोनों के बीच कोई तीसरी सूरत मुनासिब नहीं है। इससे ज़्यादा नामुनासिब कोई कार्यशैली नहीं हो सकती कि तुम एक निज़ाम (व्यवस्था) में शामिल भी हो उसका एक अंग बनकर भी रहो, उस निज़ाम और व्यवस्था के अधीन होने का दावा भी करो और फिर उसके बुनियादी उसूलों से पूरी तरह या कुछ हिस्से से मुँह भी फेरो, उसके क़ानून की ख़िलाफ़वर्ज़ी भी करो, अपने-आपको उसके आदाब और उसके नियमों की पाबन्दी से अलग भी कर लो। इस ढंग की कार्यनीति का लाज़िमी नतीजा यह है कि तुम में मुनाफ़िक़ाना (कपट के) गुण पैदा हों, नीयत की सच्चाई व निष्ठा से तुम्हारे दिल ख़ाली हो जाएँ, तुम्हारे दिल में किसी मक़सद के लिए गर्मजोशी और इरादे की मज़बूती न पैदा हो सके। अपने फ़र्ज़ की पहचान, क़ानून की फ़रमाँबरदारी और व्यवस्था से बँधे रहने के गुणों से तुम ख़ाली हो जाओ और तुम में

यह सलाहियत (कार्यकुशलता) बाक़ी न रहे कि किसी जमाअत के निज़ाम (व्यवस्था) के कुशल सदस्य बन सको। इन कमज़ोरियों और बुरे-से-बुरे ऐबों के साथ तुम जिस जमाअत (संगठन) में जाओगे, जिस निज़ाम में भी दाख़िल होगे, उसे छिन्न-भिन्न कर दोगे, उसके लिए कोढ़ के कीटाणु साबित होगे, जिस धर्म के (माननेवाले) बनोगे उसकी सूरत को बरबाद करके छोड़ोगे। इन गुणों और सिफ़तों के साथ तुम्हारे मुसलमान होने से बेहतर दर्जे की बात यह है कि जिस गरोह के उसूलों पर तुम्हारा दिल ठुके और जिस गरोह के तरीक़ों की तुम पैरवी कर सको, उसी में जाकर शामिल हो जाओ। मुनाफ़िक़ (दोमुहा बनावटी) मुसलमान से तो वे इस्लाम के न माननेवाले बेहतर हैं जो अपने मज़हब और अपनी तहज़ीब का दिल से पालन करनेवाले हों और उसके नियमों और सिद्धान्तों की पाबन्दी करें।

इलाज

जो लोग मुसलमानों के मर्ज़ का इलाज मग़रिबी (पश्चिमी) तालीम और जदीद (आधुनिक) तहज़ीब और आर्थिक हालतों के सुधार और सियासी हक़ों के हासिल होने को समझते हैं, वे ग़लती कर रहे हैं। ख़ुदा की क़सम, अगर मुसलमानों का हर फ़र्द (व्यक्ति) एम॰ ए॰ और पी॰ एच॰ डी॰ और बैरिस्टर हो जाए, दौलत और संसाधनों से मालामाल हो, पश्चिमी फ़ैशन से सिर से पैर तक सुसज्जित हो और हुकूमत के तमाम ओहदे (पद) और कौंसिलों (सभाओं) की तमाम सीटें मुसलमानों ही को मिल जाएँ, मगर उनके

दिल में निफ़ाक़ (कपट) का मर्ज़ हो, वे फ़र्ज़ को फ़र्ज़ न समझें, वे नाफ़रमानी, सरकशी और उसूल के ख़िलाफ़ चलने के आदी हैं, तो उसी पस्ती (गिरावट) और ज़िल्लत और कमज़ोरी में उस वक़्त भी पड़े रहेंगे, जिसमें आज पड़े हुए हैं। तालीम (शिक्षा), फैशन, दौलत और हुकूमत कोई चीज़ उनको उस गढ्ढे से नहीं निकाल सकती जिसमें वे अपनी सीरत (चरित्र) और अपने नैतिक पतन की वजह से गिर गए हैं। अगर तरक़्क़ी करनी है और एक ताक़तवर बाइज़्ज़त गरोह बनना है तो सबसे पहले मुसलमानों में ईमान और अल्लाह के हुक्मों की फ़रमाँबरदारी के गुण पैदा करो कि इसके बग़ैर न तुम्हारे लोगों में शक्ति पैदा हो सकती है, और न तुम्हारे गरोह में नज़्म (अनुशासन) पैदा हो सकता है और न तुम्हारी सामूहिक शक्ति इतनी ज़बरदस्त हो सकती है कि तुम दुनिया में सरबलन्द हो सको। एक बिखरी जमाअत व गरोह जिसके लोगों की अख़लाक़ी और अन्दरूनी हालत ख़राब हो, वह कभी इस क़ाबिल नहीं हो सकता कि दुनिया की संगठित और मज़बूत क़ौमों के मुक़ाबले में सिर उठा सके। फूस के पुलों का अम्बार चाहे कितना ही बड़ा हो, कभी क़िला नहीं बन सकता।

दोस्त नहीं दुश्मन

इस्लाम और मुसलमानों के बदतरीन दुश्मन वे हैं जो मुसलमानों में बुरे अक़ीदे और ख़ुदा की नाफ़रमानी की बातें फैला रहे हैं। यह मुनाफ़िक़ों की सबसे ज़्यादा बुरी क़िस्म है जिसका वुजूद मुसलमानों के लिए उन दुश्मनों से भी ज़्यादा ख़तरनाक है जो मुसलमानों के

साथ युद्धरत हैं। क्योंकि ये बाहर से हमला नहीं करते बल्कि घर में बैठकर अन्दर-ही-अन्दर डायनामाइट बिछाते हैं। ये मुसलमानों को आख़िरत और दुनिया दोनों में रुसवा करना चाहते हैं, ये वे लोग हैं जिनके बारे में क़ुरआन मजीद में कहा गया है कि "वे तो यह चाहते हैं कि जिस तरह वे ख़ुद ख़ुदा के नाफ़रमान हैं उसी तरह तुम भी ख़ुदा के नाफ़रमान हो जाओ और फिर तुम सब एक समान हो जाओ।" (क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-89)

उनकी बुराई से बचने की कम-से-कम तद्बीर (उपाय) यह है कि जो लोग दिल से मुसलमान हैं और मुसलमान रहना चाहते हैं वे उनसे दूर रहें। ऐसे लोगों के बारे में क़ुरआन में कहा गया है कि "इनमें से किसी को अपना राज़दार दोस्त न बनाओ।"

(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-89)

मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह०)
की
कुछ अहम किताबें

1. अहम हिदायतें
2. शान्ति मार्ग
3. ईमान की कसौटी
4. इनसान की आर्थिक समस्या और उसका इस्लामी हल
5. दीनियात
6. इस्लाम में मानव-अधिकार
7. इस्लामी अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त और उद्देश्य
8. क़ुरआन कैसे पढ़ें?
9. जीवन मृत्यु के पश्चात्
10. नमाज़ में आप क्या पढ़ते हैं?
11. नमाज़ें बे-असर क्यों हो गईं?
12. बनाव और बिगाड़
13. इस्लाम और सामाजिक न्याय
14. इस्लाम की बुनियादी तालीमात
15. इस्लाम कैसे फैला?